उत्तरांचल के जन आन्दोलन – भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में

डॉ० संजय कुमार पन्त
(एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष)
इतिहास विभाग
के० जी० के० महाविद्यालय
मुरादाबाद (उ० प्र०)
ईमेलः 13sanjaypant@gmail.com

सारांश

आधुनिक राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग की देन कहना बेमानी होगा क्योंकि वह तो आधुनिक सामाजिक वर्गो के मध्य शक्तियों के सम्बन्धों का परिचायक है। राष्ट्र व राष्ट्रवाद के क्रम में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को किसी एक वर्ग से भी नहीं जोड़ा जा सकता। संग्राम को तथ्यपरक रूप से परखने व समझने के लिये स्थानीय इतिहास व आन्दोलनों जिसमें स्थानीय जन की भागीदारी अहम पहलू है का अध्ययन अपेक्षित बिन्दु है, जिसकी कवायद सबल्टर्न स्कूल ने रोचक तरीके से की है। ब्रिटिश शासन काल में उत्तरांचल टिहरी रियासत और ब्रिटिश कुमाऊँ गढ़वाल (कुमाऊँ कमिश्नरी) दो सामाजिक राजनैतिक ढाँचे में विभक्त था जहाँ शासन के तरीके एवं दो भिन्न इकाईयां देखी जा सकती है परन्तु खेतीवाड़ी एवं आजीविका के लिये वनों पर निर्भरता और वनों की घनिष्टता जैसे सामाजिक और आर्थिक पहलू एक जैसे ही थे और निःसन्देह ये ही कारक उत्तरांचल में पनपे जन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में थे जिसे आज भी उत्तरांचल के पृथक राज्य आन्दोलन और उसके बाद राजधानी गठन आन्दोलन के क्रम में, पृष्ठभूमि में खोजने की कवायद समाज विज्ञानियों द्वारा की जा रही है। कुली उतार, कुली बेगार एवं कुली बर्दायश व वन आन्दोलनों ने उत्तरांचल को सीधे राष्ट्रीय संग्राम से जोड़ने का कार्य किया, जहाँ बेगार के प्रति विरोध काले व गौरे के भेद के तुलनात्मक रूप में खोजा जाये। वन विनाश आज एक महत्वपूर्ण पहलू है और ब्रिटिश काल में उत्तरांचल में पनपे कृषक आन्दोलनों का मूल बिन्दू भी वन ही थे। प्रजामण्डल निःसन्देह ढंडकों का अगला क्रम थे पर उनमें विकसित

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 23.08.2021
Approved: 15.09.2021

डॉ० संजय कुमार पन्त

उत्तरांचल के जन आन्दोलन – भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में

RJPP 2021,
Vol. XIX, No. II,

pp.250-262
Article No. 33

Online available at *:*
https://anubooks.com/rjpp-2021-vol-xix-no-1

चेतना किसान आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में ही देखी जा सकती है। कुमाऊँ परिषद के नेतृत्व में जन आन्दोलनों जिनमें बेगार मुख्य था को राष्ट्रीय बिन्दु से जोड़ने की कवायद की गई जहाँ वागेश्वर सम्मेलन से पूर्व गाँधी जी से शिष्टमण्डल की भेंट देखी जा सकती है। यह ठीक है कि कुमाऊँ परिषद में कांग्रेस का हस्तक्षेप नहीं था पर अन्ततः कुमाऊँ परिषद का विलय कांग्रेस में हो गया। एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू जिसने स्थानीय जन आन्दोलनों को राश्ट्रीय आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य से जोड़ने का कार्य किया वह था पत्रकाारिता, नेताओं का नेतृत्व एवं राजनीतिक संगठन। राश्ट्रीय स्तर के नेताओं के उत्तरांचल के दौरे व वक्तव्य, स्थान–स्थान पर धरने, तिरंगा फहराने का अभियान, खद्दर व स्वदेशी प्रचार व प्रसार, 1921, 1930, 1940–41 तथा 1942 की घटनायें जिनमें बागेश्वर आन्दोलन सल्ट, सालम, पेशावर व रवाई की घटनायें तथा स्थानीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी महत्वपूर्ण थी, किसी न किसी रूप में जन आन्दोलनों से विकसित राष्ट्रवाद एवं वृहद संग्राम की कड़ी से जुड़ी थीं।

प्रस्तावना

स्तालिन ने राष्ट्रवाद के उदय के लिए बाजार को पहली आवश्यकता बतलाते हुए इसी बाजार में राष्ट्रवाद के शिक्षा ग्रहण करने की बात कही है।[1] पराधीन राष्ट्रों में राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ भी स्तालिन ने पूँजीपति वर्ग से ही माना है। जब पूँजीपति वर्ग आन्दोलन की राह पर चलता है तो यह मातृभूमि के विषय में अपने देशी भाईयों से गुजारिश करता है कि उसका पक्ष ही राष्ट्र का पक्ष है।. देशी भाई भी उसकी गुजारिशों को सुनने के बाद एक झंडे के नीचे आ जाते हैं। जब दमन चक्र उन्हें भी प्रभावित करने लगता है तो असन्तोश का ज्वार फूटने लगता है और यहीं से राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरूआत होती है।[2] इस प्रकार स्तालिन ने स्पष्ट किया है कि राष्ट्रीय आन्दोलन सारतः पूँजीवादी आन्दोलन है। इसी परिप्रेक्ष्य में हैन्स कान ने भी आधुनिक राज्य के उदय के पूर्व राष्ट्रवाद की बात की कल्पना तक न करने का दावा किया है।[3] इसी क्रम में अयोध्या सिंह सरीखे विद्वान ने भी वर्तमान राष्ट्र का जन्म विकासमान पूँजीवाद के युग में ही स्वीकार किया है।[4] इस प्रकार की धारणाओं से राष्ट्रवाद की एकवर्गीय विचारधारा को बल मिलता है। यदि ऐसा है तो क्या भारत में राष्ट्र के निर्माण व राष्ट्रवाद के उदय में मूलतः भारत की सम्पूर्ण जनता के उपनिवेश विरोधी संघर्ष के क्रम का कोई महत्व रह जाता है ? निःसन्देह इसका सबसे प्रबल कारण राष्ट्र व राष्ट्रवाद को ठोस ऐतिहासिक प्रक्रिया न मानकर अनैतिहासिक संघटन मानने की प्रवृत्ति है। साथ ही यूरोप तथा भारत में कार्यरत ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में अन्तर न कर पाने की असमर्थता है।[5]

निःसन्देह राष्ट्र उपनिवेशवाद के विरूद्ध संघर्ष का ही परिणाम था, जहाँ भारतीयों ने जरूरी सामूहिक आत्म चेतना को महसूस किया। आधुनिक राष्ट्र को बुर्जुआ वर्ग की ही देन मानना बेमानी होगा क्योंकि वह तो आधुनिक सामाजिक वर्गो के मध्य शक्तियों के सम्बन्धों का परिचायक है। राष्ट्र व राष्ट्रवाद के इसी क्रम में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को भी किसी एक वर्ग से जोड़ना बेमानी होगा और उस स्थिति में जब कि आज राष्ट्रीय आन्दोलन को क्षेत्रीय आन्दोलनों के क्रम में जोड़ने की कवायद की जा रही हो एवं सबल्टर्न स्कूल क्षेत्रीय समस्याओं के आलोक में इसे देखने का प्रयत्न कर रहा हो। फिर यहाँ पर यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जबकि औपनिवेशिक शोषण ने उपाश्रयी वर्गो को मध्य वर्गो की अपेक्षा अधिक परेशानी में डाला।[6] भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तो धार्मिक स्वतन्त्रता, संस्कृतियों की विविधता, भाषाई आधारों पर भारतीय प्रशासन और राजनीतिक इकाइयों

अथवा राज्यों के पुनर्गठन, प्रदेशों में आर्थिक समानता समाप्त करने और आदिवाासियों की सांस्कृतिक, आर्थिक स्वायत्ता और जीवन शैलियों को इसी रूप से सुरक्षित रखने और विकसित करने के लिए वचनवद्ध था।[7] भारत को राष्ट्र, राष्ट्रीय आन्दोलन व राष्ट्रवाद सम्बन्धी धारणाओं के क्रम में मतैक्य न होने का कारण मूलतः इतिहास लेखन की परम्परा में खोजा जा सकता है।

भारत में इतिहास लेखन की जो परम्परायें सामने आती है, उनमें साम्राज्यवादी विचारधारा इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि प्राच्यवादियों के बिना हमारा इतिहास का ज्ञान निश्चित ही कम होता और उनकी उपलब्धियाँ निःसन्देह रूप से इतिहास के क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं किन्तु इसमें अतिपक्षपातपूर्ण धारणायें इसका नकारात्मक पहलू बन जाती है। यह धारणा कि यूरोपीय लोग एशियाइयों से श्रेष्ठ थे और यह भी कि यूरोपीय उच्चतर उद्देश्यों से काम कर रहे थे और एशियाई निहित स्वार्थ से सबसे अधिक आपत्तिजनक उत्तेजक हैं। यहाँ उस प्रवृत्ति के मूल दृष्टिगोचर होते हैं, जिसे बाद में साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की संज्ञा दी गई।[8] साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने भारत को अनेक धर्मो, जातियों और समुदायों का समूह स्वीकार करते हुए यह दलील दी कि भारत राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में था ही नहीं और न ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का जन आन्दोलन से कोई सम्बन्ध था। चिरोल[9] और मैक्ली[10] ने तो राष्ट्रीय आन्दोलन का हताश मध्यवर्ग की हताशा स्वीकार करते हुए अभिजन समूह की आवश्यकता मात्र की संज्ञा दी। यह भी कहा गया कि दूर से तो यह राजनीतिक संघर्ष सा प्रतीत होता है किन्तु नजदीक से देखने पर यह वर्ग पुराने समुदायों की रक्षा एवं अपनी स्थिति में सुधार तक ही सीमित दिखाई देता है।[11] यदि इतिहास लेखन की इस विचारधारा को पूर्णतः स्वीकार कर लिया जाय तो राष्ट्रीय आन्दोलन में मजदूरों, किसानों, निम्न मध्यवर्ग तथा महिलाओं की भूमिका को नकारना ही होगा। वास्तव में साम्राज्यवादी विचारधारा ने तो मस्तिष्क को ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर करने का प्रयास नहीं किया अपितु शालीनता, ईमानदारी चरित्र एवं निःस्वार्थ प्रतिद्वन्द्विता को भी राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग–थलग कर दिया।[12]

साम्राज्यवादी इतिहास लेखन का आधुनिक भारत का इतिहास लेखन जिस रूप में सामने आया, उसने भारतीय राष्ट्रवादियों के समक्ष यह प्रश्न खड़ा कर दिया कि क्या उनका इतिहास हीन लोगों का इतिहास है? फलतः साम्राज्यवादी बनाम राष्ट्रवादी विचार लेखन में आर.सी. दत्ता[13], पट्टाभिसीतारमैया[14], आर.सी. मजूमदार[15], ताराचन्द[16], बी.आर.नन्दा[17], विश्वेश्वर प्रसाद[18] और अमलेश त्रिपाठी[19] के नाम महत्वपूर्ण हैं। इस विचारधारा ने भारत को राष्ट्र बनने की प्रक्रिया मानते हुए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को जन आन्दोलन स्वीकार किया किन्तु राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की मुख्य समस्या यह रही है कि उसका दावा तो पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने का था लेकिन हकीकत में वह राष्ट्र के कई हिस्सों या वर्गो का प्रतिनिधित्व बिल्कुल नहीं करता था और कुछ एक हिस्सों या वर्गो को नजरअन्दाज करता था। असल में उस पर शिक्षित मध्य वर्ग हमेशा हावी रहा।[20] इसने स्थानीय इतिहास को कांग्रेस की विजय के रूप में ही चित्रित किया है।

जहाँ तक मार्क्सवादी विचारधारा का प्रश्न है भारत में इसका प्रभाव विलम्ब से हुआ जिसका कारण 1941 तक भारत में मार्क्सवादी साहित्य पर लगा प्रतिबन्ध था, किन्तु फिर भी 1930 के दशक के उत्तरार्ध से अधिकांशतः इस साहित्य की तस्करी के कारण मार्क्सवादी साहित्य भारतीय इतिहास लेखन पर महत्वपूर्ण आदर्शवादी प्रवृत्तियाँ लाने लगा था।[21] जहाँ तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रश्न है इस विचारधारा की नींव ए.आर.देसाई[22] व रजनी पामदत्त[23] ने रखी और वर्तमान में बिपिन चन्द्र[24] राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर कार्यरत हैं।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का एक नया दृष्टिकोण सबल्र्टन स्कूल से रूप के सामने आया है जो कि निचले स्तर की जनता का अध्ययन है और जिसका भारतीय इतिहास लेखन में सैद्धान्तिक व अध्ययन पद्धति की दृष्टि से हस्तक्षेप कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस दृष्टि से रणजीत गुहा का कार्य प्रशंसनीय है।[25] इस स्कूल में स्थानीय स्थितियों के प्रति अधिक संवेदनशीलता तो दृष्टिगोचर होती ही है, साथ ही सरकारी दस्तावेजों और स्थानीय स्थितियों के प्रति अधिक संवेदनशीलता तो दृष्टिगोचर होती ही है, साथ ही सरकारी दस्तावेजों और स्थानीय स्रोंतो का भी भरपूर प्रयोग दिखाई देता है। वास्तव में स्थानीय आन्दोलनों और राष्ट्रीय आन्दोलनों के पारस्परिक सम्बन्धों की स्पष्ट व परिष्कृत व्याख्या स्थानीय जन इतिहास को केन्द्र में रखकर ही की जा सकती है, जिसका सबसे प्रबल कारण स्थानीय व राष्ट्रीय आन्दोलन को जोड़ने वाले तत्व जन में देखा जा सकता है। अतः जन आन्दोलनों का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण अत्यन्त ही समीचीन व महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत शोध–पत्र इसी दृष्टि से उत्तरांचल के जन आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलन के संदर्भ में देखने का प्रयास है।

हिमालय की श्रेणियों से मध्य शताब्दी में नेपाल की गोरखा जाति एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आई, जिसने कुमाऊँ के चन्द व गढ़वाल के शाह शासकों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता[26] का लाभ उठाते हुए 1790 ई0 में कुमाऊँ को अपने आधिपत्य में ले लिया तथा 1791 में गढ़वाल राज्य की सीमा क्षेत्र अंगूरगढ़ पर घेरा डाल गढ़वाल को शान्ति समझौते के लिये विवश कर दिया, जिसके अन्तर्गत गढ़वाल राज्य को गोरखा राज्य को 25 हजार रूपये वार्षिक कर की अदायगी के साथ–साथ गढ़वाल दरबार में काठमांडू के एक प्रतिनिधि के रहने की माँग स्वीकार करनी पड़ी।[27] गोरखाओं ने शान्ति समझौते को तोड़ते हुए गढ़वाल पर आक्रमण कर 1804 में वहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। अब नेपाल राज्य का विस्तार पश्चिम में कुमाऊँ–गढ़वाल से लेकर कांगड़ा तक, पूर्व में सिक्किम तक हो जाने से, उसकी सीमा रेखायें कम्पनी की सीमा से टकराने लगीं, जिसने दोनों के मध्य पारस्परिक कलह को जन्म दिया।

कम्पनी कुमाऊँ और गढ़वाल में अपने व्यापारिक हितों को तलाश रही थी और वह तभी पूरे हो सकते थे जबकि वहाँ पर उसका शासन स्थापित हो जाता। आंग्ल–नेपाल युद्ध के पश्चात हुई 1815 की सिगोली की सन्धि से सम्पूर्ण कुमाऊँ और गढ़वाल पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया। कम्पनी ने गढ़वाल को दो भागों में विभक्त करते हुए पूर्वी गढ़वाल को विजय के पुरस्कार के रूप में अपने शासन में मिलाया था पश्चिमी हिस्से को जो कि टिहरी गढ़वाल या टिहरी रियासत के नाम से जाना गया, पवार वंश के राजकुमार सुदर्शन शाह को सौंप दिया।[28] यद्यपि विभाजित उत्तरांचल–टिहरी रियासत और ब्रिटिश कुमाऊँ–गढ़वाल (कुमाऊँ कमिश्नरी) दो विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक ढाँचों के रूप में विभक्त था और जिसमें दो इकाइयाँ कार्य कर रही थीं तथा जिनके शासन करने के तरीके अलग–अलग थे, फिर भी सम्पूर्ण क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से एक जैसा ही कहा जा सकता है। यहाँ के पर्वतीय समाज की प्राकृतिक विशिश्टता खेती व वनों का पारस्परिक सम्बन्ध और वनों पर निर्भरता जैसे बिन्दु एक रूप में ही थे और निःसन्देह ये कारक ही उत्तरांचल में पनपे जन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में थे।

यह ठीक है कि टिहरी रियासत का शासक सुदर्शन शाह पूर्णतः राजभक्त बना रहा,[29] किन्तु कुमाऊँ में 1857 के विद्रोह के पड़ने वाले प्रभाव का आंकलन रामजे की उस रिपोर्ट से

हो जाता है जो उन्होंने सरकार को जुलाई, 1858 में भेजी थी। रिपोर्ट में रामजे ने स्पष्ट किया कि जब मैं गढ़वाल के हिमप्रदेश दौर पर था तेा मुझे 22 मई, 1858 को विद्रोह की सूचना मिली। मैं यथाशीघ्र अल्मोड़ा पहुँचा। अल्मोड़ा में समुचित व्यवस्था स्थापित करने के पश्चात नैनीताल आकर वहाँ सुरक्षा का प्रबन्ध किया। जून में बरेली और मुरादाबाद से अंग्रेज शरणार्थी नैनीताल पहुँचने लगे। मैंने सम्पूर्ण कुमाऊँ में मार्शल लॉ लागू कर दिया। इसी बीच डाक व्यवस्था भंग हो गई। भारवाहक कुलियों के अभाव में बोझा ढोने हेतु जेल से 40 बन्दियों को इस शर्त पर रिहा किया गया कि यदि उनका आचरण अच्छा रहा तो उन्हें क्षमादान दिया जायेगा। इन बन्दियों से काम भी अच्छा लिया गया और कालाढूँगी में कई उपद्रवियों को मृत्युदण्ड दिया गया।[30] यह रिपोर्ट स्पश्ट करती है कि 1857 के विद्रोह की ज्वाला का सीधा प्रभाव डाक व्यवस्था और कुली व्यवस्था पर पड़ा। रामजे द्वारा लागू किया गया मार्शल लॉ तथा काली–कुमाऊँ में कालू मेहरा के नेतृत्व में ब्रिटिश शासन के विरोध में आवाज बुलन्द किया जाना[31], यह स्पश्ट करता है कि कुमाऊँ में 1857 के विद्रोह का प्रभाव पड़ा, चाहे वह भारत के अन्य स्थानों में फैले विद्रोह की तुलना में व्यापक नहीं था। इसके पीछे यहाँ की प्रजा द्वारा गोरखाओं के अत्याचारपूर्ण शासन की यादें, यातायात के साधनों की कमीं, समाचार पत्रों का अभाव एवं रामजे का व्यक्तित्व व प्रशासन उत्तरदायी थे। रामजे ने इंग्लैण्ड व रूस की शत्रुता के प्रचार–प्रसार से भी लाभ उठाया,[32] किन्तु आने वाला समय उत्तरांचल में राष्ट्रीयता की प्रबल भावना को लेकर आया।

9वीं व 20 वीं सदीं में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों व टिहरी राज्य के शासकों द्वारा जिस प्रकार आर्थिक शोषण की नीति अपनाई गई, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में ग्रामीण समुदाय की आवश्यकताओं व हितों के अनुरूप नहीं थी। समय के साथ समाचार पत्र–पत्रिकाओं व साहित्यिक संगठनों का अस्तित्व सामने आया। अल्मोड़ा अखबार (प्रथम देशी अखबार–1871–1981), गढ़वाली, शक्ति, कर्मभूमि, युगवाणी, गढ़वाल समाचार, पुरूशार्थ, तरूण कुमाऊँ, कुमाऊँ कुमुद, स्वाधीन प्रजा आदि समाचार पत्र–पत्रिकाओं ने उत्तरांचल के विभिन्न स्थानीय संघर्षो के एकीकरण तथा भारत के अन्य क्षेत्रों के आन्दोलनों को सामने लाने में उत्प्रेरक भूमिका का निर्वहन किया, जिसके पीछे यह तत्व महत्वपूर्ण था, कि यह सीधे उन लोगों से सम्बद्ध थे जो कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े थे। बुद्धि बल्लभ पन्त, सदानन्द सनवाल, बद्रीदत्त पाण्डे– अल्मोड़ा अखबार से, गिरिजादत्त नैथानी–गढ़वाली से, बद्रीदत्त पाण्डे, मनोहर पन्त, देवी दत्त पन्त – शक्ति से, भैरव दत्त धूलिया, श्रीदेव सुमन और भक्त दर्शन–कर्मभूमि से सीधे जुड़े थे तो युगवाणी प्रजामण्डल से सम्बद्ध था और जिसे भगवती प्रसाद पान्थरी व गोपेश्वर कोठियाल का सहयोग प्राप्त था। 1870 ई0 में डिवेंटिग क्लब की स्थापना, 1901 में गढ़वाल यूनियन का गठन, 1912 में कुमाऊँ में कांग्रेस की स्थापना, 1914 में गढ़वाल सभा व 1916 में कुमाऊँ परिषद का गठन महत्वपूर्ण पहलू थे। स्वामी विवेकानन्द की कुमाऊँ –गढ़वाल यात्रा, स्वामी सत्यदेव की अल्मोड़ा यात्रा, लाला लाजपत राय का काशीपुर आगमन, महात्मा गाँधी के 1929 व 1931 के दौरे, जवाहर लाल नेहरू तथा दयानन्द सरस्वती के दौरों ने यहाँ जन आन्दोलनों को राष्ट्रीय स्वरूप से जोड़ने में मदद की तो चन्द्र सिंह गढ़वाली, खुशीराम, हर्शदेव ओली, रामसिंह आजाद व दौलतराम ने नेतृत्व की तह को गाँवों तक पहुँचाया। 1883 में इल्बर्ट बिल के समर्थन में बुद्धिबल्लभ पन्त की अध्यक्षता में अल्मोड़ा में सभा का आयोजन, 1905 में बंग भंग के विरोध में नवयुवकों का संगठित होकर सभायें करना[33], 1917 में अल्मोड़ा व नैनीताल में स्वराज्य सभायें तथा नैनीताल के नन्दा

देवी मंदिर में तिरंगा झण्डा फहराया जाना और इलाहाबाद बैंक के पास गोविन्द बल्लभ पन्त की अध्यक्षता में सभा का आयोजन[34] आदि घटनायें इस बात का ज्वलन्त प्रमाण हैं कि कुमाऊँ कमिश्नरी में राष्ट्रवादी भावनायें पनपने लगीं थीं, चाहे इसके पीछे स्थानीय मुद्दे ही क्यों न हावी थे। इन स्थानीय मुद्दों में बेगार की प्रथा एवं वनों से जुड़ी समस्यायें ही राज्य की जनता का सबसे अधिक कष्टकारी पहलू था।

यह ठीक है कि कुली उतार, कुली बेगार व कुली बर्दायश नामक कुप्रथायें उत्तर प्रदेश में पहले से व्याप्त थी[35] और बेगार तो परमारों, चन्दों और गोरखों के समय में भी ली जाती थी किन्तु एक तो ब्रिटिश काल में रजिस्टर में नाम अंकित होने से इनसे बच निकलना असम्भव था, जैसा बचाव परमारों, चन्दों व गोरखों के समय सम्भव हो जाता था और दूसरा कुमाऊँ कमिश्नरी में यह अपने सर्वाधिक घृणित रूप में थीं। रेग्यूलेशन एक्ट 1806 के कानूनी आधार पर आधारित प्रथाओं का स्वरूप इतना घृणित था कि इनका उल्लंघन करने वाले के सिर पर अंग्रेज अधिकारी कमोड या जूते की बोरी तक रखने के लिए स्वतन्त्र था।[36] अंग्रेज अधिकारियों के उनके कर्मचारियों व घरेलू नौकरों के साथ कुमाऊँ कमिश्नरी के दौरे में आने पर और आंग्ल पर्यटकों के यहाँ तक कि उनकी आयाओं के साथ भ्रमण में आने पर सामान ढोने के लिये कुलियों की आवश्यकता की पूर्ति कुमाऊँ कमिश्नरी की जनता द्वारा की जाती थी।[37] इसमें व्यक्ति की श्रेणी का ध्यान नहीं रखा जाता था और कुली उतार देना ही पड़ता था। यह ठीक है कि कुली उतार के अर्न्तगत सरकार मजदूरी देने को बाध्य थी पर यह मजदूरों तक हमेशा नहीं पहुँच पाती थीं। कुली उतार का उल्लंघन करने पर 5 रूपये से 15 रूपये तक जुर्माना तय था।[38] कुली बेगार के अन्तर्गत मजदूरी नहीं दी जाती थीं। इसमें सार्वजनिक निर्माण के कार्य के लिए भी बेगार ली जाती थी और दौरे पर आने वाले अंग्रेज अधिकारियों के कार्य तो करने ही पड़ते थे। कुली बर्दायश के अन्तर्गत अंग्रेज अधिकारियों व उनके नौकर चाकरों के लिये मुफ्त खाद्य सामग्री की व्यवस्था करनी होती थी।[39] कुमाऊँ कमिश्नरी की भाँति टिहरी रियासत में थी ये कुप्रथायें थीं। यहाँ कुली उतार को छोटी बर्दायश के नाम से जाना जाता था। बड़ी बर्दायश जिसे प्रभुसेवा के नाम से भी जाना जाता था, निःशुल्क थी। बरा के अन्तर्गत राजा व राजा के कर्मचारी निःशुल्क खाद्य सामग्री लेते थे।[40]

कुमाऊँ परिषद के 1918 के हल्द्वानी अधिवेशन में इन कुप्रथाओं की समाप्ति के पास प्रस्ताव को 1919 ई0 के कोटद्वार अधिवेशन में भी दोहराते हुए सरकार को इसे तुरन्त समाप्त करने का स्मृति–पत्र प्रेषित किया गया। कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिये रिपोर्ट देने वाली कमिश्नर विंढम के नेतृत्व में गठित कमेटी के नकारात्मक रिपोर्ट देने तथा ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में भी नकारात्मक उत्तर मिलने[41] के पश्चात दिसम्बर 1920 में काशीपुर में कुमाऊँ परिशद का ऐतिहासिक अधिवेशन जिसकी अध्यक्षता हरगोविन्द पन्त ने की, इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ कि सरकार समर्थित राय बहादुरों पर राष्ट्रवादी नेतष्त्व हावी रहा। कुप्रथाओं की समाप्ति का प्रस्ताव आते ही राय बहादुर सम्मेलन से उठकर चले गये। सम्मेलन की समाप्ति के पश्चात बद्रीदत्त पाण्डे के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल गाँधी जी से मिलने गया और अल्मोड़ा लौटकर कुमाऊँ परिषद के नेतष्त्व में मकर संक्राति के अवसर पर जनता से बागेश्वर में एकत्रित होने की अपील की गई, जहाँ कुलियों के नामित रजिस्टरों को सरयू में बहाया जाना निर्णीत था।[42] 12–13 जनवरी 1921 को बद्रीदत्त पाण्डे, हरगोविन्द पन्त और चिरंजी लाल के नेतृत्व में लाल झण्डों के कुली उतार बन्द करो लिखा गया। डिप्टी कमिश्नर

डायविल के आन्दोलनकारियों को बागेश्वर खाली करने के आदेश को धता बताते हुए कुलियों के नाम से अंकित रजिस्टर सरयू में बहा दिये गये।[43] निःसन्देह यह बेगार आन्दोलन की चरम पराकाष्ठा थीं, जहाँ स्थानीय प्रशासन लगभग गतिशून्य ही था। ब्रिटिश गढ़वाल में भी ईश्वर दत्त ध्यानी और मंगतराम खन्तवाल ने मालगुजार के पद से तथा केसरसिंह ने एस0डी0एम0 की रीडरी से त्यागपत्र दे दिया। मुकन्दीलाल बैरिस्टर की अध्यक्षता में चमेठाखान में विशाल जनसभा हुई तो चमोली क्षेत्र में अनुसूया प्रसाद बहुगुणा ने आन्दोलन का नेतृत्व किया। इन सभाओं के पश्चात जनता ने सरकार की उस अपील को भी ठुकरा दिया जिसमें कुली बेगार समाप्त कर कुली उतार को कायम रखने की बात कही गई, जो कि शासन को जनता से दी गई चुनौती से कम न था। फलस्वरूप सरकार का दमनात्मक चक्र चला जिसने व्यापक असन्तोश को जन्म दिया। उत्तेजित अल्मोड़ा जिले की जनता ने ब्रिटिश सरकार द्वारा सुरक्षित 250 एकड़ चीड़ के जंगलों को जला दिया।[44] अल्मोड़ा में धारा 144 लगा दी गई। निःसन्देह इस प्रकार इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन का सम्बन्ध स्थानीय आन्दोलन से जोड़ा तभी तो जहाँ एक ओर सत्यदेव ने इसे असहयोग की ईट[45] कहा तो गाँधी जी ने रक्तपात हीन क्रान्ति की संज्ञा देते हुए इसे भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का अगुआ[46] तक कह डाला।

बेगार के साथ ही वनों का प्रश्न भी महत्वपूर्ण था। वनों के अधिकार को लेकर छोटे स्तर पर जन आन्दोलन हुए, किन्तु इन्हीं के फलस्वरूप सरकार ने 1921 में कुमाऊँ वन कष्ट अध्ययन समिति का गठन किया। इस समिति से कमिश्नर विन्ढ़म, कंजरवेटर एवं जोध सिंह नेगी थे। इसी कमेटी की सिफारिशों के आधार पर जनता को धास लकड़ी काटने तथा पशुओं को जुगाने की अनुमति उन वनों में दे दी गई जो व्यवसायिक दृष्टि से लाभदायक नहीं थे।[47] 1930 ई0 में कुमाऊँ फोरेस्ट कमेटी का गठन हुआ।[48]

यह तथ्य भी रोचक एवं महत्वपूर्ण है कि 1929 तक के वर्षो में काउन्सिलों हेतु चुनावों में भागीदारी और रोलेट व साइमन कमीशन तक का विरोध स्थानीय स्तर पर हुआ। 6 अप्रैल 1919 को रोलेट एक्ट के विरोध में हुई काशीपुर सभा में गोविन्द बल्लभ पन्त ने इसके दोषों को चिन्हित किया। 1920 के मुरादाबाद के संयुक्त प्रान्त के कांग्रेस सम्मेलन में गोविन्द बल्लभ पन्त व मुकन्दी लाल बैरिस्टर सम्मिलित हुए। 1921 में कुमाऊँ कमिश्नरी की जनता को विधानसभा में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त होने पर अल्मोड़ा जिले से आनन्द सिंह, नैनीताल से नारायण दत्त छिमवाल और ब्रिटिश गढ़वाल से जोध सिंह नेगी चुने गये। अल्मोड़ा से हरगोविन्द पन्त, नैनीताल से गोविन्द बल्लभ पन्त और ब्रिटिश गढ़वाल से मुकन्दी लाल बैरिस्टर स्वराज्य पार्टी के लिए विजयी हुए। गोविन्द बल्लभ पन्त को तो संयुक्त प्रान्त विधानसभा का नेता चुना गया। गोविन्द बल्लभ पन्त के प्रयासों से ही कुमाऊँ कमिश्नरी गैरआइनी प्रदेशों की श्रेणी से अलग हो गई।[49] 1926 ई0 में कुमाऊँ परिशद का विलय कांग्रेस में हो गया।[50]

1930 का वर्ष उत्तरांचल के इतिहास में राष्ट्रीय आन्दोलन व जन इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। 1930 में गाँधी जी द्वारा संचालित नमक सत्याग्रह में उत्तरांचल के दो नेता ज्योतिराम काण्डपाल और भैरव दत्त जोशी की भागीदारी जहाँ एक ओर महत्वपूर्ण थीं वहीं दूसरी ओर उत्तरांचल में नमक सत्याग्रह आश्रम स्थापित हुआ। 1 मई 1930 को गाँधी जी के चित्र को डांडी में लेकर आन्दोलनकारियों के साथ भगीरथ पाण्डे राष्ट्रीय ध्वज लेकर तल्लीताल तक पहुँचे ही थे कि पुलिस ने चित्र को छीनने का असफल प्रयास किया। 26 मई को गोविन्द बल्लभ पन्त गिरफ्तार कर लिये

गये। अल्मोड़ा में 26 मई को शान्ति लाल त्रिवेदी और मोहन जोशी नगरपालिका में झण्डा फहराने के प्रयास में गम्भीर रूप से घायल हुए किन्तु श्रीमती कुन्ती देवी, भगीरथी देवी, जीवन्ती देवी, मंगला देवी वर्मा और रेवती देवी के नेतष्त्व में महिला जत्थे के साथ सत्याग्रही नगरपालिका में झण्डा फहराने में सफल हो ही गये।[51] महिलाओं की भागीदारी एक महत्वपूर्ण पहलू था। बागेश्वर में तो महिला सम्मेलन में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आह्वान किया गया।

1930 का वर्ष सल्ट में अभूतपूर्व आन्दोलन के लिये भी जाना जाता है। लकड़ी के ठेकेदारों के साथ सल्टवासी अपनी जीविका के उपार्जन के लिये वनों में जाया करते थे, किन्तु कांग्रेस के इस प्रस्ताव ने कि कांग्रेस की इच्छा के विरूद्ध ठेका लेने वाले ठेकेदारों के साथ न जाया जाय, सल्टवासियों ने वनो को गये लोगों को वापस लाने के लिए शिक्षक के पद से त्याग पत्र देने वाले पुरूषोत्तम उपाध्याय व लक्ष्मण सिंह अधिकारी के नेतष्त्व में प्रस्थान किया।[52] पुलिस ने सल्टवासियों पर अमानवीय व पाशविक अत्याचार किये। 23 सितम्बर 1931 को एक वर्श हो जाने पर पूरे कुमाऊँ में सल्ट दिवस मनाया गया।

एक और घटना जो उत्तरांचल से बाहर की थी– वह थी पेशावर में 23 अप्रैल 1930 को 18वीं से इन्कार कर दिया जाना।[53] साम्राज्यवादियों ने जानबूझकर हिन्दू सैनिक भेजे थे क्योंकि वहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक थी पर देश प्रेम साम्प्रदायिक भावना से कहीं अधिक शक्तिशाली साबित हुआ। गढ़वाली सैनिकों को गिरफ्तार कर फौजी मुकदमा चलाया गया। चन्द्रसिंह गढ़वाली को काले पानी की सजा दी गई। गढ़वाली सैनिकों को मजदूर किसान पार्टी ने विशेष सम्वाद भेजा।[54] वस्तुतः यह गढ़वाल के लिए एक नए मोड़ व क्रान्ति का वर्श था।

1937 का वर्ष उत्तरांचल के लिये कम महत्वपूर्ण नहीं था क्योंकि गोविन्द बल्लभ पन्त, हरगोविन्द पन्त एवं अनुसूया प्रसाद बहुगुणा प्रान्तीय विधानसभा चुनाव में विजयी हुए और गोविन्द बल्लभ पन्त तो कांग्रेस दल के नेता चुने गये, जिन्होंने मंत्रिमंडल का गठन किया।[55] 5–6 मई 1938 को श्रीनगर गढ़वाल के राजनैतिक सम्मेलन जिसमें नेहरू व विजय लक्ष्मी पंडित भी थे, श्रीदेव सुमन ने यदि गंगा हमारी माता होकर भी हमें आपस में मिलाने के बजाय दो हिस्सों में बाँटती है तो हम गंगा को ही पाट देंगे[56] कहकर गढ़वाल के एकीकरण के बिगुल को फूँक दिया। एक अन्य आन्दोलन अस्कोट का किसान आन्दोलन था जो कि भूमि की हिस्सेदारी के लिये आन्दोलित था। 500 किसानों के जत्थे को प्रान्तीय राजधानी लखनऊ जाते समय पीलीभीत से ही लौटा देना कम महत्वपूर्ण नहीं था।

सन् 1940–41 के व्यक्तिगत सत्याग्रह एवं भारत छोड़ो आन्दोलन के समय घटित घटनाओं में गढ़वाल में ढोला पाली की घटना, देघाट गोलीकाण्ड, सालम व सल्ट की घटनाओं ने स्थानीय जन आन्दोलनों से विकसित हुए राष्ट्रवाद का व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलनों से जुड़ने का संकेत दे ही दिया। 1940–1941 में ब्रिटिश गढ़वाल में ढोला पालकी के प्रयोग पर मारपीट की घटनायें सामने आयी। ब्रिटिश गढ़वाल में सवर्ण हिन्दुओं के विवाह के मौके पर हरिजन वर–वधुओं के डोला पालकी एवं सवारियों में बैठने से मनाही थी। गाँधी जी ने 25 जनवरी 1941 को ही गढ़वाल में चल रहे व्यक्तिगत सत्याग्रह पर यह कहकर रोक लगा दी कि ब्रिटिश गढ़वाल को यदि व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाना है तो पहले डोला पालकी के अत्याचार से हरिजनों को मुक्त करना होगा[57], किन्तु यह रोक तब वापस ले ली गई जबकि 23 फरवरी 1941 को लैंसडाउन की सभा में डोला पालकी की कुप्रथा को समाप्त

करने का प्रस्ताव पास हुआ और गाँधी जी को एक शिष्ट मण्डल ने इलाहाबाद जाकर प्रस्ताव की जानकारी दी।

एक ओर 10 अगस्त 1942 को गाँधी जी की जय, अंग्रेजों भारत छोड़ो तथा इन्कलाब जिन्दाबाद के नारों से अल्मोड़ा गूँज उठा तो वहीं दूसरी ओर देघाट में खुशाल सिंह के नेतृत्व में चौकोट के उदयपुर कवरस्यारी, सुरमोली, गोलना व महरौली इन पाँच गाँवों पर लगे भारी जुर्माने को लेकर आन्दोलन भड़क गया। 18 अगस्त 1942 को पुलिस ने खुशाल सिंह को गिरफ्तार कर जनसभा कर रही उत्तेजित भीड़ पर गोली चला दी, जिसमें हरिकृष्ण व हीरामणि शहीद हो गये। देघाट गोलीकाण्ड कुमाऊँ कमिश्नरी में भारत छोड़ो आन्दोलन की अवधि का पहला गोलीकाण्ड था।[58] सालम में तो जनता ने पटवारी के कार्यालय में पहुँचकर सरकारी प्रपत्रों को जला डाला। सल्ट में जॉनसन ने सभा कर रही भीड़ पर गोली चलाने के आदेश दे दिये जिसमें गंगाराम व खीमदेव शहीद हो गये। 1942 में सल्ट में जॉनसन का प्रवेश व खुमाड़ गोली काण्ड का मार्मिक चित्रण यहाँ के लोक गीतों में देखा जा सकता है।[59] सल्ट की मार्मिक घटना के कारण ही गाँधी ने इसे दूसरे वारडोली की संज्ञा दी।[60] नैनीताल में भी आन्दोलन का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा, जहाँ दानसिंह व उसके साथियों ने नैनीताल वन विभाग को जलाकर खाक कर दिया।[61]

उत्तरांचल के जन आन्दोलनों का लेखन टिहरी रियासत के आन्दोलनों का उल्लेख करे बिना अधूरा ही रहेगा। उत्तरांचल की टिहरी रियासत में भी सोच व संगठन की प्रक्रिया अपने जन आन्दोलनों जिसे ढंडक के नाम से जाना जाता है और जो नई वन नीति व भू बन्दोवस्त की नीतियों के कारण अस्तित्व में आये जारी रही। 1930 से पहले टिहरी रियासत की जनता ने अप्रिय कानूनों को तोड़ा, वनाधिकारियों पर हमला भी किया, जन विरोधी कानूनों को उठाने की माँग भी की किन्तु रोचक तथ्य यह है कि उसने राजा की वैधता पर कोई प्रश्नचिन्ह खड़ा नहीं किया और 1930 के पहले के विवाद भी राजा के हस्तक्षेप से सुलझ ही गये, किन्तु 1927–28 में टिहरी रियासत में जिस नई वन नीति की व्यवस्था अस्तित्व में आई, वह जन साधारण के हितों के अनुरूप नहीं थी क्योंकि इस व्यवस्था ने जनता के खलियान, आने जाने के मार्ग पर ही नहीं, प्रजा के गोचारण के स्थानों पर प्रतिबन्ध से उठने वाले सवालों को खड़ा कर दिया। फलतः रवाई की जनता ने हीरा सिंह, दयाराम, वैजराम के नेतृत्व में आन्दोलन की राह पकड़ते हुए रवाई में आजाद पंचायत का गठन कर समानान्तर सरकार बना डाली। रवाई व जौनपुर में ग्रामीणों के संगठन प्रबल होने लगे। राजा नरेन्द्र शाह के यूरोप प्रवाह की स्थिति में रियासत के दीवान चक्रधर जुयाल ने संयुक्त प्रान्त के गवर्नर से शस्त्र प्रयोग की आज्ञा लेकर वन बन्दोवस्त के विरोध में चल रहे इस आन्दोलन को कुचलने का बीड़ा उठा लिया।

30 मई 1930 को तिलाड़ी के मैदान में आजाद पंचायत में एकत्रित हुए जनसमूह को घेरकर दीवान के आदेश पर सेना ने गोलियाँ चला दी व शवों को बाँधकर यमुना में फेंक दिया। गढ़वाल के इतिहास में पहली बार रवाई परगनें में गोलियाँ चलीं।[62] इस काण्ड के पश्चात् 1939 तक टिहरी राज्य में कोई विशेष राजनैतिक घटना नहीं घटी पर इसके बाद प्रजामण्डल की हचचलें अस्तित्व में आने लगीं। विद्यार्थी आन्दोलन और उसके बाद 8 अगस्त 1942 को बम्बई में देशी लोक परिषद की स्थायी समिति की बैठक में लोक परिशद के सार्वभौम सत्ता से नाता जोड़ों और प्रजा से नाता जोड़ो के नारे[63] का टिहरी की जनता ने स्वागत किया। 1944 में श्रीदेव सुमन का बलिदान व 1946 में आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के टिहरी में आगमन से जन आन्दोलन को नई गति दी। 1946 में कड़कोट की

जनता नेता दौलत राम व नागेन्द्र सकलानी के साथ नजराना, पौन–टोटी, बरा–बेगार और जुर्माने हरगिज नहीं देंगे के नारे के साथ नरेन्द्र नगर गई, जहाँ दोनों नेताओं को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया किन्तु 1946 में टिहरी रियासत में प्रजामण्डल को मान्यता मिल जाने से जन आन्दोलन ने एक नई दिशा व गति पकड़ी।[64] आगे चलकर स्वतन्त्रता के पश्चात् 1947 में सकलाना की प्रजा ने जिस प्रकार सड़कों, स्कूलों व अस्पतालों की माँग की और आलू की पैदावार का एक भाग तथा सहदारी व भूकर न देने का निर्णय लेते हुए सकलाना में प्रजामण्डल ने आजाद पंचायत स्थापित कर कर्मचारियों को बाहर निकाल दिया। आन्दोलन का ज्वार कीर्तिनगर में भी फैला। 10 जनवरी 1948 को कीर्तिनगर को टिहरी से आजाद करने के उद्देश्य से एक वृहद् जनसमूह एकत्रित हुआ। नागेन्द्र सकलानी ने कीर्तिनगर पहुँचकर एक कमेटी गठित की। इस कमेटी ने राष्ट्रीय ध्वज फहरा कर जनता की अदालत कायम की। नागेन्द्र सकलानी की शहादत के पश्चात आन्दोलन का नेतृत्व चन्द्र सिंह गढ़वाली ने संभाला।[65] 15 जनवरी, 1948 को जनसमूह जिस प्रकार नागेन्द्र सकलानी व मौलूराम के जनाजे के साथ टिहरी पहुँचा, उस सैलाव को देखकर राजा नरेन्द्रशाह टिहरी छोड़कर नरेन्द्र नगर चले गये। 15 जनवरी 1948 के दिन टिहरी नगर में आजाद पंचायत का ध्वज फहरा दिया गया। 1 अगस्त 1940 को भारत सरकार ने एक विज्ञप्ति द्वारा टिहरी राज्य का भारत में विलय कर दिया।[66] यह स्वतन्त्र भारत की पहली देशी रियासत थी, जिसका विलय भारत में हुआ।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिक राष्ट्र के बुर्जुआ वर्ग की देन कहना बेमानी होगा क्योंकि वह तो आधुनिक सामाजिक वर्गो के मध्य शक्तियों के सम्बन्धों का परिचायक है। राष्ट्र व राष्ट्रवाद के क्रम में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को किसी एक वर्ग से भी नहीं जोड़ा जा सकता। संग्राम को तथ्यपरक रूप से परखने व समझने के लिये स्थानीय इतिहास व आन्दोलनों जिसमें स्थानीय जन की भागीदारी अहम पहलू है का अध्ययन अपेक्षित बिन्दु है, जिसकी कवायद सबल्टर्न स्कूल ने रोचक तरीके से की है। ब्रिटिश शासन काल में उत्तरांचल टिहरी रियासत और ब्रिटिश कुमाऊँ गढ़वाल (कुमाऊँ कमिश्नरी) दो सामाजिक राजनैतिक ढाँचे में विभक्त था जहाँ शासन के तरीके एवं दो भिन्न इकाईयां देखी जा सकती है परन्तु खेतीवाड़ी एवं आजीविका के लिये वनों पर निर्भरता और वनों की घनिष्टता जैसे सामाजिक और आर्थिक पहलू एक जैसे ही थे और निःसन्देह ये ही कारक उत्तरांचल में पनपे जन आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में थे जिसे आज भी उत्तरांचल के पृथक राज्य आन्दोलन और उसके बाद राजधानी गठन आन्दोलन के क्रम में, पृष्ठभूमि में खोजने की कवायद समाज विज्ञानियों द्वारा की जा रही है। कुली उतार, कुली बेगार एवं कुली बर्दायश व वन आन्दोलनों ने उत्तरांचल को सीधे राष्ट्रीय संग्राम से जोड़ने का कार्य किया, जहाँ बेगार के प्रति विरोध काले व गौरे के भेद के तुलनात्मक रूप में खोजा जाये। वन विनाश आज एक महत्वपूर्ण पहलू है और ब्रिटिश काल में उत्तरांचल में पनपे कृशक आन्दोलनों का मूल बिन्दू भी वन ही थे। प्रजामण्डल निःसन्देह ढंडकों का अगला क्रम थे पर उनमें विकसित चेतना किसान आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में ही देखी जा सकती है। कुमाऊँ परिषद के नेतृत्व में जन आन्दोलनों जिनमें बेगार मुख्य था को राष्ट्रीय बिन्दु से जोड़ने की कवायद की गई जहाँ वागेश्वर सम्मेलन से पूर्व गाँधी जी से शिष्टमण्डल की भेंट देखी जा सकती है। यह ठीक है कि कुमाऊँ परिशद में कांग्रेस का हस्तक्षेप नहीं था पर अन्ततः कुमाऊँ परिषद का विलय कांग्रेस में हो गया। एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू जिसने स्थानीय जन आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलनों के परिप्रेक्ष्य से जोड़ने का कार्य किया वह था पत्रकाारिता, नेताओं का नेतृत्व एवं

राजनीतिक संगठन। राष्ट्रीय स्तर के नेताओं के उत्तरांचल के दौरे व वक्तव्य, स्थान–स्थान पर धरने, तिरंगा फहराने का अभियान, खद्दर व स्वदेशी प्रचार व प्रसार, 1921, 1930, 1940–41 तथा 1942 की घटनायें जिनमें बागेश्वर आन्दोलन सल्ट, सालम, पेशावर व रवाई की घटनायें तथा स्थानीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी महत्वपूर्ण थी, किसी न किसी रूप में जन आन्दोलनों से विकसित राष्ट्रवाद एवं वृहद संग्राम की कड़ी से जुड़ी थीं।

संदर्भ

1. स्तालिन, माक्सिज्म एण्ड दि नेशनल क्वैश्चन स्तालिन वर्क्स खण्ड–2, मास्को, 1953, पृ0 316
2. पूर्वोक्त, पृ0 317
3. हैन्सकान, आइडिया आफ नेशनलिज्म, न्यूयार्क, 1945, पृ0 4
4. अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, नई दिल्ली, 1977, पृ0 1
5. विपिन चन्द्र, समकालीन भारत, नई दिल्ली, 2001, पृ0 14
6. रविन्द्र कुमार आधुनिक भारत का उदय, नई दिल्ली, 1999, पृ0 19
7. विपिन चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0 78
8. शीरीं मुसवी, आधुनिक भारतीय इतिहास लेखन का विकास, हिन्दी कलम, 2 जुलाई, दिसम्बर, 1994, पृ0 215
9. चिरो, इण्डियन अनरेस्ट, लन्दन, 1910
10. मैक्ली इंग्लिश एजूकेशन एण्ड दि आरियन आफ इंग्लिश नेशनलिज्म, न्यूयार्क, 1940
11. अनिल सील, दि इमरजैन्स आफ इंडियन नेशनलिज्म, कैम्ब्रिज, 1968, पृ0 315
12. एस गोपाल, दि इण्डियन इकोनामिक एण्ड सोशियल रिव्यू, वाल्यूम XIV नं0 3 जुलाई–सितम्बर, 1977, पृ0 405
13. आर0सी0 दत्ता, दि इकोनोमिक हिस्ट्री आफ इंडिया अण्डर ब्रिटिश रूल तथा दि इकोनामिक हिस्ट्री आफ इंडियन द विक्टोरियन ऐज, देहली, 1960
14. पटटाभिसीतारमैया, दि हिस्ट्री आफ इंडियन नेशनल कांग्रेस, मद्रास, 1935
15. आर0सी0 मजूमदार, ब्रिटिश पैरामाउण्टसी इन इण्डियन स्नेमा, वाल्यूम 1, बम्बई 1960
16. तारा चन्द्र, फ्रीडम मूवमेन्ट इन इण्डिया, वाल्यूम 1, दिल्ली, 1961
17. वी0आर0 नन्दा, महात्मा गॉधी ए बायोग्राफी, लन्दन, 1958
18. विश्वेश्वर प्रसाद, चेन्चिंग मोडस आफ इण्डियन नेशनल मूवमेन्ट, नई दिल्ली।
19. अमलेश त्रिपाठी, दि एक्ट्रीमिस्ट चैलेंज, कलकत्ता, 1967
20. उमा चक्रवर्ती, परिचर्चा इतिहास पुनलेखन, हिन्दी कलम 2, जुलाई दिसम्बर, 1994, पृ0 19
21. शीरी मुंसवी, पूर्वोक्त, पृ0 220
22. ए0आर0 देसाई, सोशियल बैकग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म, बम्बई, 1959
23. रजनी पामदत्त, इण्डिया टुडे, बम्बई, 1949
24. विपिन चन्द्र, माडर्न इण्डिया, नई दिल्ली, 1971, नेशनलिज्म एण्ड कालोनियलिज्म इन इण्डिया, दिल्ली, 1979, दि राइज एण्ड ग्रोथ आफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इण्डिया, नई दिल्ली, 1984, इण्डियन नेशनल मूवमण्ट लांग टर्म डायनैमिक्स, नई दिल्ली, 1988

25. रणजीत गुहा, सबल्टर्न स्टडीज भाग 1 से 5, दिल्ली, 1982–1987
26. अतुल सकलानी, दि हिस्ट्री आफ ए हिमालयन प्रिन्सली स्टेट, दिल्ली, 1987, पृ0 2
27. हरिकृष्ण रतूड़ी, गढ़वाल का इतिहास, देहरादून, 1928, पृ0 437
28. अतुल सकलानी, पूर्वोक्त, पृ0 23
29. एच0जी0 वाल्टन, ब्रिटिश गढ़वाल गजेटियर, इलाहाबाद, 1921, पृ0 216
30. जे0एम0 क्ले, नैनीताल, 1927
31. बद्रीदत्त पाण्डे, कुमाऊँ का इतिहास, अल्मोड़ा, 1937, पृ0 456
32. पी0सी0 जोशी (संकलित), रिबेलियन ए सिम्पोजियम, न्यू देहली, 1957, पृ0 332
33. शक्ति साप्ताहिक, अल्मोड़ा, 2 दिसम्बर, 1919
34. अल्मोड़ा अखबार, अल्मोड़ा, 1 अक्टूबर 1917 एवं 8 अक्टूबर 1917
35. कन्हैया लाल मिश्र, उत्तर प्रदेश स्वाधीनता संग्राम की एक झाँकी, लखनऊ, 1972, पृ0 54
36. पूर्वोक्त, पृ0 55
37. अल्मोड़ा अखबार, अल्मोड़ा, 4 अगस्त 1913
38. शिव प्रसाद डबराल, उत्तराखंड का इतिहास, खण्ड 6, दोगड्डा, संवत् 2032, पृ0 173
39. बी0ए0 स्टोवल, मैनुअल आफ लैण्ड टैन्योर्स इन कुमाऊँ टैक्सस, इलाहाबाद, 1907, पृ0 132
40. शिवप्रसाद डबराल, पूर्वोक्त, पृ0 448–449
41. शम्भू प्रसाद शाह, गोविन्द बल्लभ पन्त एक जीवनी, दिल्ली, 1922, पृ0 50
42. अल्मोड़ा स्मारिका, अल्मोड़ा, 1976, पृ0 8, कन्हैया लाल मिश्र, पूर्वोक्त, पृ0 58
43. कन्हैया लाल मिश्र, पूर्वोक्त, पृ0 56–57
44. शम्भू प्रसाद शाह, पूर्वोक्त, पृ0 66
45. शक्ति, 8 फरवरी, 1921
46. स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक गढ़वाल डिवीजन, सूचना विभाग, उ0प्र0, लखनऊ, 1970, पृ0 58
47. भक्त दर्शन, गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ, लैंसडाउन, 1952, पृ0 47
48. मथुरा दत्त नखुण्डिया, सल्ट–बारडोली, दिल्ली, 1973, पृ0 70
49. उत्तराखण्ड भारती, नैनीताल, अप्रैल–सितम्बर, 1975, पृ0 47
50. शेखर पाठक, राइज एण्ड ग्रोथ आफ कुमाऊँ परिशद 1916–1926, प्रोसीडिंग्स आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 1987
51. अल्मोड़ा स्मारिका, 1976, पृ0 99
52. मथुरा दत्त नखुण्डिया, पूर्वोक्त, पृ0 11
53. मैनचेस्टर गार्जियन, 2 अप्रैल, 1930
54. मैनचेस्टर गार्जियन, 29 अप्रैल, 1930
55. शेखर पाठक, बद्रीदत्त पाण्डे और उनका युग, लखनऊ 1982, पृ0 14
56. कन्हैया लाल मिश्र, पूर्वोक्त, पृ0 142
57. कर्मभूमि विशेषांक, कोटद्वार, 26 जनवरी, 1956, पृ0 21
58. कर्मभूमि विशेषांक, पूर्वोक्त

59. विस्तृत विवरण के लिये देखिये– मथुरा दत्त नखुण्डिया, सल्ट– बारडोली, पूर्वोक्त
60. स्वतंत्रता संग्राम में कुमाऊँ डिवीजन, सूचना विभाग, उ0प्र0, लखनऊ, 1969, पृ0 25
61. अल्मोड़ा स्मारिका, 1976, पृ0 101
62. अतुल सकलानी, पूर्वोक्त, पृ0 131
63. भक्त दर्शन, पूर्वोक्त, पृ0 293
64. शिवप्रसाद डबराल, पूर्वोक्त, पृ0 340–341
65. राहुल सोंकष्त्यायन, चन्द्र सिंह गढ़वाली, दिल्ली 1957
66. शिव प्रसाद डबराल, उत्तराखण्ड का इतिहास, खण्ड, 6, दोगड्डा संवत् 2032, पृ0 394–395